॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

भगवद्वदनवैश्वानरावतारश्रीमद्वल्लभाचार्यमहाप्रभुपूज्यपादविरचित

विवेकधैर्याश्रयनिरूपण

(गो० श्रीश्यामलालात्मजश्रीव्रजराजविरचितविवृति के हिन्दी अनुवाद समेत)

अनुवादक और प्रकाशक:-

शास्त्री हरिशङ्कर ओङ्कारजी

(मीमांसाशास्त्री, वेदान्तविशारदः M. R. A. S.)

श्रीसुबोधिनीग्रन्थमालाकार्यालय

नडीयाद और **जामनगर.**

संवत् १९८८ वि०

मूल्य चार आने

॥ श्रीकृष्णः ॥

यो वै भूमा तदमृतम्

विज्ञापनम् ।

संस्कृतविद्यानुरागिणो महानुभावाः !

सुविदितमिदं भवादृशां यत्साम्प्रतम्प्राचीनसंस्कृतनिबन्धानां कटुकीटपटलदंशनेन वा, निलयानलकीलकवलनेन वा, पाथसः पृषतपातेन वा विलोपः क्रमादवलोक्यते। क्वचन प्रकाशिता अपि ते मूल्यबाहुल्यात्, यावदभिलषितकलावैकल्याच्च न सन्तोषमुपजनयन्ति मानसेषु प्रणयिनाम् । अनुपपत्तिसन्ततिमेतादृशीमनुसन्धाय विदूयमानमानसैः कृतिवरैरसकृदुत्साहिताः ख्यातवैदुष्याः श्री. हीरालालशास्त्रिणः श्री. हरिशङ्करशास्त्रिणश्च पुरोदीरितत्रुटिविघटनाय

"श्रीपीयूषपत्रिका"

समभिधानाया

मासिकपत्रिकायाः सम्पादनभारं स्वीचक्रुः । महाभाग्यमिदं यत्सुरसरस्वतीं समुन्नेतुमिमे कार्यावरुद्धसमया अपि बद्धपरिकराः समभूवन् ।

अत्र ब्रह्मसूत्राणुभाष्यविवरणं, देवयाज्ञिकभाष्यसमेतं कातीयं श्रौतसूत्रं, महाकवि-मयूरविरचितं सूर्यशतकं च क्रमशः प्रकाश्यते । तथैव वर्षमध्ये सुरुचिरं विशेषाङ्कद्वयं चतुः-शतपृष्ठात्मकं प्रददाति ।

अथैवमपि पत्रिकायाः समुन्नतिस्तदा स्यात्, यदि भवन्तस्तत्रानुग्राहकतया ग्राहकतया वा सहायतां सहर्षं दर्शयेरन् । अस्याश्च सकललोकसौलभ्यार्थं रूप्यकत्रयमेव वार्षिकं मूल्यम् । मञ्जुलतायां तु 'क्रिया केवलमुत्तरम्' इति नास्ति तस्यां विशेषतो वक्तव्यमिति ।

स्थानम्:-
श्रीपीयूषपत्रिकाकार्यालयः
नडीयाद, (गुजरात)

विदुषां वशंवदस्य
व्यवस्थापकस्य ।

॥ श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

श्रीमद्भगवद्वदनवैश्वानरावतारश्रीवल्लभाचार्यमहाप्रभुपूज्यपादप्रणीतम्

विवेकधैर्याश्रयनिरूपणम्

यत्प्राप्तिमात्रतो नूनं रतिः स्याद् गोकुलाधिपे।
स श्रीमदाचार्यपादरेणुर्मह्यं प्रसीदतु ॥ १ ॥

जिसकी प्राप्तिसे ही गोकुलके अधिपति श्रीकृष्णचन्द्रमें निश्चय रति होती है वह श्रीमहाप्रभुजीके चरणारविन्दका रेणु मुझपर प्रसन्न होवे ।

श्रीमदाचार्यचरणोंने तत्त्वदीपनिबन्धमें वेदप्रतिपादित कर्म, ज्ञान एवं भक्तिमार्गका भली-भांति विवेचन किया है, तथापि कलियुगमें वे दुःसाध्य हैं, अतः उनके अनुसार आचरण करनेमें जीव असमर्थ हैं, ऐसा जानकर संक्षेपसे शरणमार्गका अपने चित्तमें विचार किया। निबन्धमें 'जगन्नाथे विठ्ठले च' (सर्व० २५३) इत्यादि कारिकासे जो प्रपत्ति—शरण—मार्गका* उपदेश किया है, उसीका विस्तृत विवेचन करते हुए पूर्वोक्त तीनों मार्गोंका यह शरणमार्ग उपकारक है ऐसा, बोध कराते हुए श्रीमदाचार्यचरण विवेक एवं धैर्यसे आश्रयकी सिद्धि होती हैं, ऐसा बोध करानेके हेतु आश्रयके साधनरूप विवेक एवं धैर्यकी रक्षा करनेकी आज्ञा देते हैं। अथवा यों कहिये कि विवेक एवं धैर्यरक्षाकी आवश्यकताका प्रथम श्लोकसे बोध कराते हैं:—

---

* एकाकी, निःस्पृह एवं शान्तचित्तवालापुरुष श्रीकृष्णमें तत्पर होकर पर्यटन करे, अथवा गृहधनादिका त्याग करे, अथवा उनका श्रीकृष्णकी सेवामें विनियोग करे, तथा श्रीभागवतके पाठमें तत्पर रहे इत्यादि विविध प्रकार बताकर भगवत्परायण होनेको कहा गया है। 'जगन्नाथे' इत्यादि वाक्योंमें कहा है कि, यदि इस प्रकारसे भी प्रपत्ति प्राप्त न हो, तो श्रीजगन्नाथजी, श्रीविठ्ठलनाथजी, श्रीरङ्गजी आदि स्थानोंमें जहां कि पूजाप्रवाह सिद्ध हो सके, वहां, अर्थात् भगवत्सन्निधिमें अन्याश्रय रहित होकर रहे। इस प्रकार प्रपत्ति-शरणमार्गका बोध कराया है। इसीका विवेकधैर्याश्रयग्रन्थमें विस्तार है।

विवेकधैर्ये सततं रक्षणीये तथाऽऽश्रयः ।

विवेक एवं धैर्यकी निरन्तर रक्षा करना चाहिये । उस प्रकार रक्षा करे, कि जिससे आश्रय सिद्ध हो ।

रक्षाकी आवश्यकता

विवेक एवं धैर्यकी रक्षा करनी आवश्यक है । आवश्यकताको दिखानेके लिये ही आचार्यचरणोंने मूलमें रक्षणीय शब्दकी योजना की है । इनका रक्षण करनेकी आवश्यकता है, अतएव निरन्तर रक्षा करनेको कहा है । इससे समझना चाहिये कि आश्रयके अनन्तर भी इनकी रक्षा उचित रूपसे की जाय ।

रक्षणका लक्षण.

रक्षण शब्दका लक्षण है—"उसके नाशकका निवारण करते हुए उसका पोषण करना" यही अर्थ प्रायः सब सम्प्रदायिकोंने स्वीकृत किया है, अतः उसीके (विवेक और धैर्यके) अनुसन्धानपूर्वक तदनुकूल कृति करनी उचित है ।

इस प्रकार निरन्तर विवेक एवं धैर्यकी रक्षा करनेसे आश्रय सिद्ध होता है । अथवा यों कहिये, कि उनकी रक्षा उस प्रकार की जाय कि जिससे आश्रय सिद्ध हो । मूलमें 'तथा' शब्दका प्रयोग है । यत् और तत् शब्दका नित्य सम्बन्ध है, अतः यहां (सिद्धचेत्) क्रियापदका अध्याहार करना उचित होगा । आश्रयका सिद्ध होना जीवके अधिकारमें नहीं है । प्रभु प्रसन्न होकर आश्रयका दान करते हैं, तभी वह सिद्ध होता है । इसी हेतुसे मूलमें विवेक एवं धैर्यके साथ आश्रयको न लिखकर पृथक् उल्लेख किया है । श्रीसुबोधिनीजीमें भी अक्रूरस्तुतिके प्रसङ्गमें कहा है कि "भगवन् ! आप जब कृपाकर अपने अङ्गीकाररूपी व्रतको स्वीकार करें, तभी मेरे समान जीव आपके चरणमें शरण होसकते हैं । मैं निःसाधन हूं, साधन करनेमें असमर्थ हूं, तथापि दीनतासे आपके चरणमें शरण प्राप्त कर सका, यही आपका अनुग्रह है । असज्जनोंको दुर्लभ ऐसे आपके चरणारविन्द मेरे भाग्यमें कहां ?"

आश्रय तभी होता है, जब भगवान् इस देहादि सङ्घातको योग्य बनावें, अथवा देहादि सङ्घातका त्याग करावें । देहादि सङ्घातका त्याग अथवा उसको योग्य बनाना जीवकी कृतिसे परे है । यह तभी सम्भव है, कि जब भगवान्का अनुग्रह हो । भगवान्का अनुग्रह होनेसे ही सत्पुरुषोंकी सेवामें रुचि, भगवान्के स्वरूपको जाननेकी इच्छा एवं शास्त्रमें तत्परता होती है, और यह अन्तिम जन्म भी तभी सिद्ध हो सकता है । अतएव सब सङ्घातोंको अनुकूल बनाकर अथवा त्याग कराकर भगवान् ही जीवको शरण का दान करते हैं ।

अब हमको इस बातका भी विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है कि आश्रयका विवेक एवं धैर्यके साथ सम्बन्ध किस प्रकारका है ? इस विषयमें साम्प्रदायिकोंका मत निम्नलिखित है:—

(१) एक मत ऐसा भी प्रचलित है कि सिद्धचेत् इस क्रियापद का अध्याहार न करके वचन विपरिणाम कर रक्षणीय शब्दके साथ ही आश्रयका अन्वय करना उचित है। अर्थात् विवेक और धैर्यकी रक्षा करनी चाहिये तथा आश्रयकी भी रक्षा करनी चाहिये। क्योंकि ये तीनों भी भक्तिमार्गमें समानरूपसे उपयुक्त हैं। अतएव यहां तीनोंका प्राधान्य समानरूपसे है। जिस प्रकार घट बनानेमें दण्डचक्रादि समानरूपसे उपयोगी हैं, ठीक उसी प्रकार भक्तिमार्गमें विवेक, धैर्य एवं आश्रय समानरूपसे उपकारक होनेसे यहां तीनोंका प्राधान्य समानरूपेण समझा जायगा।

(२) कितने ही टीकाकार कहते हैं कि यहां विवेक और धैर्यको एक पदमें कहा है तथा आश्रयका पृथक् उपन्यास किया है, अतः यह समझना चाहिये कि विवेक एवं धैर्य आश्रयमें कारण हैं। अर्थात् विवेक एवं धैर्यसे ही आश्रय सिद्ध होता है।

(३) कुछ विद्वानोंका यह भी कहना है कि विवेक, धैर्य और आश्रय इस प्रकार क्रमसे तीनोंका उपदेश किया गया है। अतः समझना चाहिये, कि सेवामें तीनोंकी उपयोगिता है। सबसे प्रथम विवेककी उपयोगिता है और इसके अनन्तर धैर्यकी। आश्रय तो इन दोनोंका निर्वाहक है।

सिद्धान्त.

यद्यपि उपर्युक्त तीनों मत योग्य हैं, तथापि समाप्तिमें आश्रयको ही फलरूप कहा गया है। और उपर्युक्त तीनोंके मतमें भी आश्रयको ही मुख्य माना है, अतः 'सिद्धचेत्' इस क्रियाका अध्याहार भी निर्दोष है। अध्याहार करनेसे गौरव नहीं है। वचनविपरिणामसे 'रक्षणीये' के स्थानमें 'रक्षणीयः' करने और सहोक्तिरूप अनुषङ्ग माननेमें भी समान ही गौरव है।

साथ ही इस बातको भी ध्यानमें रखना उचित है कि श्रीमदाचार्यचरणका नाम "पृथक्शरणमार्गोपदेष्टा" है। अर्थात् आपश्री पृथक्शरणमार्गका उपदेश करनेवाले हैं। यह नाम तभी सार्थक हो सकता है जबकि आश्रयको स्वतन्त्रफलरूप माना जाय। निबन्धमें आश्रयका सङ्क्षेपसे निरूपण किया गया है, और श्रीसुबोधिनीजीके अन्यान्य प्रसङ्गोंमें भक्तिमार्गमें उपकार होनेसे प्रपत्ति—शरणमार्गका आनुषङ्गिकरूपसे व्याख्यान है, स्वतन्त्र रूपसे

नहीं, अतः श्रीमहाप्रभुजीका नाम 'पृथक्शरणमार्गोपदेष्टा' उपयुक्त न हो सकेगा। आश्रयको फलरूप माननेसेही यह नाम सार्थक होता है। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि आश्रयको भक्तिका अङ्ग माना गया है, उसमें बाधा उपस्थित होगी। क्योंकि आश्रय भक्तिमें उपकारक होनेसे गौणी लक्षणासे उसको फलरूप भक्तिका साधन माना है। भक्तिमार्ग शरणमार्गसे भिन्न नहीं है। क्योंकि "पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद" ग्रन्थमें "भक्ति मार्गके कहनेसे यह पुष्टिमार्ग है" ऐसा कहा है। अतएव दोनों एक ही हैं। किन्तु स्मरण रहे, कि शरणमार्ग प्रवाहमार्गसे तो भिन्न ही है। जिसको आश्रय सिद्ध होगया है, वह निरन्तर भगवान् ही का स्वामित्व स्वीकार करता है, इससे स्पष्ट होता है, कि प्रपत्तिमार्ग मर्यादामार्गसे भी भिन्न है। और पुष्टिमें संकीर्ण–मिश्र है। पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद ग्रन्थमें भेद प्रयोजक पुष्टि एकही होनेसे मिश्र भेदोंमें आश्रयका मिश्रत्व नहीं कहा गया है। इसी प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थकी समाप्तिमें "कलौ भक्त्यादि मार्गा हि दुःसाध्या इति मे मतिः" कलियुगमें भक्त्यादि मार्ग दुःसाध्य हैं, ऐसा कहा है। अतः मानना पडेगा कि आश्रयको कर्म, ज्ञान एवं भक्तिमें अनुकल्प, प्रतिनिधि, अथवा गौणकल्प कहा है। अतः यह आश्रय पूर्वोक्त तीनों प्रकारोंसे भिन्न स्वरूपका होनेके कारण, कर्म, ज्ञान एवं भक्तिका सजातीय होनेपर भी भक्त्यादिमार्गका फलसाधनद्वारा उपकारक है। उपर्युक्त अनुकल्प प्रकार श्रीमदाचार्यचरणोंने श्रीमद्भागवतके स्कं. १ अ. ६ श्लो. २६ में तीन प्रकारके तामस, राजस एवं अविद्यारूप कषायोंको दूर करनेके अर्थ क्रमशः कर्म, ज्ञान एवं भक्तिमार्ग बताये हैं। इन तीनों मार्गोंमें अधिकार भिन्न भिन्न प्रकारका होनेके कारण एक जीवको एकही समयमें एकसाथ तीनों मार्गोंका अनुसरण करना अशक्य होनेके कारण, इन तीनोंमेंसे एकका ही अनुकल्प करना उचित है। अर्थात् तीनों मार्गोंमेंसे स्वाधिकारानुसार किसी एकका ही जीवके लिये अनुसरण करना उचित होगा। इसी प्रकार अनुकल्पका वर्णन किया गया है। यदि सब प्रकार अशक्य हों, तो आश्रयही करना योग्य है।

आश्रयका अधिकारी कौन है ?

आश्रयका अधिकारी विरक्त होना चाहिये। तथापि श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्ने श्रीमुखसे गृहस्थाश्रमी अर्जुनको "अथ तदप्यशक्तोऽसि" तथा "सर्वधर्मान् परित्यज्य" इन वाक्योंमें प्रपत्ति अथवा शरणमार्गका उपदेश किया है। अतएव गृहस्थ भी प्रपत्तिमार्गका अधिकारी है। एकमात्र विरक्तको ही आश्रयका अधिकारी नहीं कह सकेंगे। "अनुकूल पदार्थ उपकारक भी है" ऐसा पूर्वकाण्डका न्याय है। यहां इतनी विशेषता है कि पूर्वमीमांसामें

अनुकूलको केवल फलोपकारक कहा है, और यहां आश्रय स्वरूपोपकारक एवं फलोपकारक है । अतः यदि न्यायदृष्टिसे देखाजाय तो पूर्वटीकाकारोंसे हमारा मतभेद दृष्टिपथ न होगा । जिनको जैसी स्फूर्ति हुई, वैसा उन्होंने अपना मत प्रतिपादन किया है ।

निबन्धोक्त आश्रयका विस्तार

यह आश्रय निबन्धोक्त प्रपत्तिमार्गका ही विस्तार है, ऐसा किस आधार पर समझना चाहिये ?

निबन्धीय सर्वनिर्णय प्रकरणकी कारिकामें कहा गया है, कि जगन्नाथ आदिस्थानोंमें जहां पूजाप्रवाह हो, वहां जाकर निवास करे । इस आज्ञासे भगान्के समीप रहनेका आशय स्पष्ट होता है । तात्पर्य यह कि श्रीजगन्नाथादि स्वरूपोंमें तत्पर रहनेका ही नाम शरणमार्ग वा प्रपत्तिमार्ग है । परन्तु निबन्धीय कारिकामें भगवत्परत्वका विचार नहीं किया है, उसीका इस ग्रन्थ के द्वारा सविस्तर विवेचन करके आश्रयका समर्थन करते हैं ।

प्रपत्तिशब्दका अर्थ है शरणहोना । जरासन्धने जिन राजाओंको रोक रक्खाथा उन्होंने भगवान्का शरण स्वीकार करते हुए प्रार्थना की है कि "हे कृष्ण ! कृष्ण ! अप्रमेयात्मन् ! हे शरणागतके भयको दूर करनेवाले प्रभो ! हम आपके शरणमें आये हैं । क्योंकि आप शरणागतके भयको दूर करनेवाले हैं, हम एक जरासन्धके ही भयसे मुक्त होनेकी इच्छासे नहीं आये हैं, किन्तु हमको संसारसे भी भय लगता है, अतः हमको आप संसारके भयसे भी मुक्त करिये । पृथक बुद्धिवाले बहिर्मुखोंको संसार में भय होताहै, उससे बचनेकेलिये हम आपके चरणोंमें शरण हैं ।" इन वाक्योंकी सुबोधिनीमें शरणगमनका पर्यायवाचक शब्द प्रपत्तिका प्रयोग किया गया है । अतः कहना चाहिये कि निबन्धोक्त मार्गका ही इस ग्रन्थ में विस्तार है ।

अब हम प्रस्तुत विषयका विचार करते हैं । उपर्युक्त प्रकारसे विवेककी रक्षाके लिये आज्ञा दी, तथा विवेक और धैर्यका फलसम्बन्ध बताया । अब विवेक एवं धैर्यकी रक्षाका प्रकार तथा आश्रय, शरणमार्ग एवं उसके स्वरूपको कहनेसे पूर्व उद्देशानुसार सर्व प्रथम विवेकका स्वरूप कहते हैं:—

विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यति ॥ १ ॥

विवेक उसीका नाम है कि सर्व दुःखहर्ता भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र निजेच्छासे ही सर्व लौकिक और अलौकिक कार्य करेंगे, इस प्रकार मनमें विचार करना और मुखसे उच्चारण करना ।

विवेक तो यही है कि सर्व कार्योंमें भगवान्‌की इच्छाके अधीन रहकर सन्तोष करे। यहां सम्प्रदायिक विद्वानोंका अभिप्राय है कि " विवेकोऽयं समाख्यातः, " " एतत्सहन-मत्रोक्तम्, " " एवमाश्रयणं प्रोक्तम् " इन उपसंहार वाक्योंको देखनेसे ज्ञात होता है, कि इस ग्रन्थमें सामान्य विशेषभावसे इनका स्वरूप मात्र कहा गया है, इस ग्रन्थका नाम भी " विवेकधैर्याश्रयनिरूपण " है, उसका भी वही अर्थ निकलता है। अतः इस ग्रन्थमें इनका स्वरूप मात्र कहा गया है ऐसा मानना अनुचित न होगा। और यदि ऐसा ही माना जाय तो विवेकादिकी रक्षाका जो प्रकार दर्शाया गया है, उसकी सिद्धि पूर्वश्लोकार्धसे ही मान लेनी उचित है।

विवेकशब्दका अर्थ

विवेक शब्दका अर्थ है पृथक् करना अथवा उसका ज्ञान प्राप्त करना। यथा नित्या-नित्यवस्तुविवेक। कभी कभी विवेक शब्दका उपयोग स्वभावके अर्थमें भी किया जाता है। उचित सत्कार करनेवालेको विवेकी कहा जाता है। और विवेक शब्दका अर्थ जलद्रोणी, विचार और एकान्त भी होता है। हमको यहां उक्त रूढ अर्थोंसे प्रयोजन नहीं है। किन्तु इनसे भिन्न ही परिभाषा करनी होगी। यहां विवेक शब्दकी परिभाषा इस प्रकार की गई है, तुशब्द अन्यव्यावर्तक होनेसे यहां विवेक शब्दसे सर्वदुःखहर्ता भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र निजेच्छासे ही हमारा सर्वप्रकार लौकिक एवं अलौकिक कार्य सम्पादन करेंगे, यही विवेक शब्दका अर्थ विवक्षित है।

हरिशब्दका अर्थ

भगवान्‌को हरि कहा जाता है। क्योंकि वे भक्तोंके सर्वदुःखोंके हर्ता हैं। स्वकीय भक्तोंका ऐहिक एवं पारलौकिक सर्व कार्य निजेच्छासे—स्वतन्त्रेच्छासे—लीलेच्छासे अथवा निजजनोंकी इच्छासे करते हैं। यही विवेकका स्वारस्य है। इसी प्रकार विवेक बुद्धिका अनुसन्धान करना उचित है। हरि (भगवान्) गजेन्द्रको मोक्ष देनेवाले हैं। गजेन्द्र जैसे अज्ञ पशुयोनिके जीवोंके भी दुःखोंको हरते हैं। यही रहस्य 'हरि'पद से स्पष्ट होता है।

भगवान् निजेच्छासे ही सर्व कार्य करते हैं। क्योंकि यह जगत् भगवान्‌की क्रीडा-स्थली है। 'क्रीडाभाण्डमिदं विश्वम्' यह विश्व भगवान्‌का क्रीडाभाण्ड अर्थात् रमणस्थल है। क्रीडाके लिये ही इस जगत्‌की रचना की गई है। 'निज' शब्द तदीयत्वका बोधक है। अज्ञान भक्त जगत्‌को भगवान्‌का क्रीडाभाण्ड नहीं समझ सकेगा, तथापि भगवान् भक्तका कल्याण ही करते हैं। जो भगवान् इस विश्वके स्थिति, लय और प्रादुर्भावका कारण है, जो भगवान् योगेश्वरोंको भी अगम्य मायावाला है, तथा जो तीनों (ब्रह्मा, विष्णु

और महेश्वर) देवोंका आधपति है, वह भगवान् हमारा कल्याण करेगा। इस प्रकार अनुसन्धान करनेसे भक्तको विवेकका स्वरूपज्ञान होता है। यदि इससे भी अधिक तदीयत्वकी स्फूर्ति हो तो भगवान् उस भक्तके अधीन होकर रहते हैं। "मैं भक्तोंके अधीन हूँ" "भक्त मेरेमें हैं और मैं भक्तोंमें हूँ," "आत्माराम भगवान्ने भक्तोंकेलिये ही रमण किया" इत्यादि वाक्य भी भगवान्की भक्ताधीनताको दर्शाते हैं। भगवान् भक्तोंका परोक्षहित करते हैं, भगवान् भक्तोंके समीप निरन्तर रहते हैं, अपनी स्वरूपमर्यादाका भी उल्लङ्घन करके भक्तोंकी अभिलाषा पूर्ण करते हैं। अधिकारानुसार भक्तोंका भावी हित भी भगवान् ही करते हैं, भक्तोंके और भगवान्के इस प्रकारके सम्बन्धका निरन्तर स्मरण करना ही विवेक है। भगवान् भक्तका सर्व कार्य सम्पादन करेंगे, भावी अर्थचिन्ता दूर करेंगे। अतीत और वर्तमान चिन्ताओंको दूर करनेवाले वे ही थे, हैं, इस प्रकार विचार करना ही विवेक है ॥१॥

इस प्रकार विवेकका स्वरूपनिरूपण किया। अब उसकी रक्षाका प्रकार कहनेसे पूर्व कामनाओंकी पूर्तिका साधन तथा कामनाओंके नाश करनेका विचार किया जाता है। गजेन्द्र एवं व्रजभक्तोंकी प्रार्थनाके अनुसार प्रार्थना भी करना बाधक है, ऐसा विचारकर उनसे रक्षा करनेकेलिये प्रार्थनाका फलव्यभिचार दर्शाते हैं:—

प्रार्थिते वा ततः किं स्यात् स्वाम्यभिप्रायसंशयात्।
सर्वत्र तस्य सर्वं हि सर्वसामर्थ्यमेव च ॥ २ ॥

प्रार्थितवस्तु प्रदान करनेकी स्वामीकी इच्छा है या नहीं, इस अभिप्रायका संशय होनेसे प्रार्थना करने पर भी उस प्रार्थनासे क्या होगा? क्योंकि सर्वत्र उस भगवान्का वस्तुमात्र है, और उसीका सर्व प्रकारसे सामर्थ्य है।

मानलियाजाय, कि भक्त भगवान्से प्रार्थना करे। किन्तु प्रार्थित वस्तु प्रदान करनेकी इच्छा है या नहीं, इसका निर्णय न कर सकनेसे उसको प्रार्थनासे भी क्या लाभ? गजेन्द्रको भगवान्ने मोक्ष प्रदान किया, वह उसकी प्रार्थनासे नहीं, किन्तु अपनी इच्छासे। यदि प्रार्थनासे ही मोक्ष प्राप्त होता, तो उसको पूर्व जन्ममें ही प्राप्त होना चाहिये था। क्योंकि गजेन्द्रमोक्षके प्रसङ्गमें कहा है कि "वह पूर्वजन्ममें पढा हुआ परम मन्त्रका जाप करने लगा" इस वाक्यसे ज्ञात होता है, कि यदि प्रार्थनासे ही इष्ट वस्तुकी प्राप्ति होती हो तो उसको पूर्व जन्ममें ही मोक्षका प्राप्तहोना वास्तविक था, किन्तु वैसा नहीं हुआ। इससे सिद्ध होता है, कि भगवान् प्रार्थनासे मोक्ष नहीं प्रदान करते, किन्तु विचारित मर्यादाकी स्थापना करनेकेलिये भगवान् भक्तिसे ही प्रसन्न होते हैं। जगत्में ऐसा प्रसिद्ध करनेके हेतु एवं

भगवान् सर्वत्र विराजमान हैं, ऐसा दर्शनेके हेतु स्वेच्छासे मोक्षदान करते हैं, न कि प्रार्थनासे। व्रजभक्तोंको भी स्वेच्छासे ही फल दान किया। यदि प्रार्थनासे फल प्रदान करनेकी इच्छा होती, तो "मुझे कन्धेपर चढाके ले जा ये" ऐसा सुनतेही भगवान् अन्तर्धान न हो जाते। क्वचित् प्रार्थनासे भगवान् अपेक्षित फल प्रदान न करें, ऐसा मानाजाय, तो भी कालविलम्बसे और न्यूनाधिक फल प्राप्त होनेसे, वह अन्यथासिद्ध माना जायगा। यदि यों कहा जाय, कि प्रभु प्रार्थना करनेसे भी फलदान करते हैं, तो मानना पडेगा कि वह प्रार्थना भगवान् के फलदान करनेके निश्चयके अनुसार ही की गई होनी चाहिये। संशयग्रस्त प्रार्थना व्यर्थ होती है। इस प्रकार विचार करनेसे भी ज्ञात होता है, कि सर्वत्र भगवान् की इच्छा ही कारण भूत है। और प्रार्थना निमित्तमात्र है। यदि भगवान्को फलदान करनेकी इच्छा न हो, और प्रार्थना की जाय, तो भक्तकी अधीरताको देखकर भगवान्को भी क्रोध होगा, और फलतः वे उसकी उपेक्षा ही करेंगे। अतएव प्रार्थनाको बाधक समझना उचित है। यहां प्रार्थनाके सम्बन्धमें जो कुछ कहा गया है, वह संशयकालीन प्रार्थना के विषयमें समझना चाहिये।

जीव अणु होनेसे—अल्पज्ञ होनेसे—उसके मनोरथ अल्प ही होते हैं, अतः कुब्जाकी तरह प्रार्थना करनेसे भी अल्पफल ही प्राप्त होगा। और अल्पफलके प्राप्त होनेसे कुबुद्धि अधिक होगी। भगवान् अलौकिक होनेसे अप्रार्थित वस्तु अधिक परिमाणमें प्रदान करते हैं। और जिस प्रकार श्रुतिओंको मनोरथसे उपरान्त फल प्राप्त हुआ, उसी प्रकार वह भक्त भी मनोरथोपरान्त प्राप्त कर सकेगा। अतएव हमें भी कहना पडेगा, कि संशयग्रस्त प्रार्थना करनेसे लाभकी अपेक्षा हानि ही अधिक होगी। यदि प्रार्थना की भी जाय तो विवेकके सामर्थ्यका नाश होगा, अतः प्रार्थना न करना ही अच्छा है। इस प्रकार बाधकका विचार करके विवेककी रक्षा करनी चाहिये। उपर्युक्त प्रकारसे समझ सकेंगे कि कामनाओंकी पूर्तिके लिये भगवान्के अतिरिक्त अन्य साधन नहीं है। इस प्रकार प्रार्थना ही निष्फल है, तो काम्यकर्मोंकी निष्फलताके विषयमें क्या कहा जाय? काम्यकर्मोंके फलका व्यभिचार होनेसे और उससे विपरीत अनिष्टकारक परिणाम उपस्थित होनेसे विदूरने भगवान्से पूछा था कि "लोक सुखके अर्थ, कर्म करते हैं। परन्तु उससे सुख और शान्ति प्राप्त नहीं करते। इससे विपरीत अधिक दुःख भोगते हैं। अतः भगवन्! कृपा कर मेरेलिये योग्य आज्ञा करिये।"

यदि यथार्थ रीतिसे वैदिक कर्म करें, तो उसका फल अवश्य प्राप्त होता है, उसके फलका व्यभिचार नहीं देखनेमें आता, ऐसा भी नहीं कह सकेंगे। क्योंकि दक्षयज्ञादि की तरह कर्म साङ्गोपाङ्ग होना कठिन है। इसका विचार निबन्धके "कर्मणो गहना गतिः" वाक्यमें यथार्थ रीतिसे किया गया है। वहांसे देखलेना उचित होगा।

निन्दावाक्योंसे और कुब्जा आदिके उदाहरणसे प्रार्थनाकी बाधकता होने पर भी, यदि भगवान्का अभिप्राय समझकर प्रार्थना की जाय, तो वह बाधक नहीं हो सकेगी, ऐसा समझकर अपनी—अभिलाषाको पूर्ण करनेके हेतु भगवानकी प्रार्थना करनी ही चाहिये, यह धारणा भी—दोषमूलक है। क्योंकि भगवान् सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें बाहर और भीतर विराजमान है, और वस्तुमात्रके ऊपर उसीका स्वामित्व है, तथा यह जगत् उसका क्रीडाभाण्ड है। सर्वत्र सर्वप्रकारका सामर्थ्य भगवान्का ही दृष्टिपथ होता है। श्रुति भगवती आज्ञा करती है, कि "भगवान् सर्वत्र है, सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ, सर्वको वशमें रखनेवाला और सर्वके ऊपर शासन करनेवाला है।" अर्थात् वह यदि फलदान करनेकी इच्छा करेंगे तो उनके सर्वज्ञ होनेके कारण वे भक्तोंकी इच्छाको भी जानलेंगे, और उसीके अनुसार फल प्रदान करेंगे। यदि जीवमें भगवद्दत्त फलको भोगनेकी सामर्थ्यका अभाव देखेंगे, तो वे उस प्रकार सामर्थ्य भी प्रदान करेंगे। भक्तकी अभिलाषाके अनुसार वे भक्तोंके मनोरथोंकी पूर्ति करते हैं। "भक्तोंके समीप भगवान्ने नृत्य किया," "भक्तोंको भगवान्ने वैकुण्ठका दर्शन कराया" इत्यादि वाक्य उपर्युक्त भक्ताधीनताके पोषक हैं। भक्ताधीन भगवान् भक्तको फलप्रदान न करें तो समझना चाहिये कि भगवान्की इच्छा नहीं है। इसप्रकार भगवान्का अभिप्राय समझने के पश्चात् प्रार्थनाका अवकाश नहीं रहेगा। अतएव भगवान्के पास प्रार्थना न करना ही उचित ज्ञात होता है। ऐसा विचार करके ही श्रीगुसांईजीने कहा है कि "जिसप्रकार हम भगवान्के हैं उसी प्रकार भगवान् भी स्वभावतः हमारे हैं, अतः हमको इसलोककी और परलोककी भी चिन्ता नहीं है।" इसप्रकार भगवान् कामनापूरक हैं, ऐसा बताकर विवेककी रक्षाका प्रकार कहा है ॥ २ ॥

गर्वत्याग.

अब कामनासे विवेककी रक्षाका प्रकार कहते हैं:—

अभिमानश्च सन्त्याज्यः स्वाम्यधीनत्व भावनात्

मैं स्वामीके—श्रीकृष्णके—अधीन हूं, ऐसा मानकर अभिमानका त्याग करना चाहिये। अभिमान शब्दका रूढ अर्थ गर्व होता है। और यौगिक अर्थ* अपनेको अन्यसे बडा मानना है चित्तमें बडप्पन अथवा पूजनीय बुद्धिका उदय होना ही अभिमान हैं। लोकिक अलौकिक दोनों प्रकारके अभिमान एवं उनके साधनोंका त्याग करना उचित जान पडता है। भक्त भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके अधीन है, इस पराधीनताका विचार करके गर्वका त्याग करना चाहिये। कामनासे ही चित्तमें बडप्पन अथवा पूज्य बननेकी बुद्धि उत्पन्न होती है। अपने गुण,कुल एवं प्रशंसाओंपर अनुचित ध्यान देना ही गर्व कहाता है। इनका विचार करनेवालों-

* अभित उभयतो वा योऽगभिमानः।

में ही वैसी कामनाएं दिखाई देती है। यदि भक्त समझने लगजाय कि मैं भगवान्के अधीन हूं, अभिमान करना व्यर्थ है, तो अभिमानकी उत्पत्ति ही न होगी। जिन भक्तोंको इस प्रकार विचार होता है उनके चित्तमें स्वभावतः अभिमान उत्पन्न ही नहीं होता है। उन्नत होजाने के पश्चात् गर्व होता है। परन्तु विचार करना चाहिये कि जिस भगवान्की कृपासे मैं इस प्रकार उन्नत हो सकाहूं, वही भगवान् मेरा अन्य सर्व कार्य सम्पादन करेंगे। उत्कर्ष भी भगवान्के ही हाथोंमें है। अतः अभिमानको त्याग कर विवेककी रक्षा करना उचित है। भक्तोंमें दासभाव होनेके कारण उनमें सहज ही अभिमान उत्पन्न नहीं होता, किन्तु दुःसङ्गादिसे होता है। इस समय मैं स्वामीके अधीन हूं, इस बातका स्मरण करना उचित है। किसी समय भगवान् स्वयं भक्ताधीनत्वको दर्शाते हैं, तब, और कभी भक्तको सेवादि करनेसे भी अभिमान होना सम्भव है।परन्तु स्वामीके अधीन होनेका स्मरण मात्रही अभिमानकी उत्पत्तिको रोकता है। भगवान् स्वतन्त्रेच्छावान् हैं, अतः यदि वे किसी समय शिक्षा—दण्ड करें तो भी स्वाम्यधीनत्वका स्मरण ही खेद नहीं होने देता है। यहां अभिमानके त्यागमें हेतु स्वाम्यधीनत्वकी भावनाको बताया है, उससे देहाभिमानका त्याग करनेका स्वारस्य प्रकट होजाता है, तथापि स्वाम्यधीनत्वकी भावनासे देहाभिमानका भी सेवामें तथा शरणागतिमें बाधकत्व होनेसे त्याग करना उचित है। इस प्रकार विवेककी रक्षका आन्तरप्रकार कहा है। २½

अब बाह्य प्रकार कहते हैं। पूर्वोक्त रीतिसे गर्वका त्याग कर विवेककी रक्षा करनेसे विवेकसिद्धिज्ञापक, भगवदाज्ञारूप अवान्तर फल प्राप्त होता है। यदि यह आज्ञा श्रीमहाप्रभुजीकी आज्ञासे विरुद्ध हो, तो "उभयतः पाशारज्जुन्याय" से गुरु और भगवान्की आज्ञा दोनोंमेंसे किसका आचरण किया जाय, इर शङ्काका समाधान करते हुए, प्रयोजक विभागसे, आज्ञाके स्वरूपविभाग और विषयविभागसे व्यवस्था देते हैं—

विशेषतश्चेदाज्ञा　स्यादन्तःकरणगोचरः ॥ ३ ॥
तदा विशेषगत्यादि भाव्यं भिन्नं तु दैहिकात्।

श्रीमहाप्रभुजीकी आज्ञासे भिन्न भगवान्की आज्ञा हो तो वह आज्ञा अभिप्राय पूर्वक है या नहीं? केवल परीक्षाके लिये तो आज्ञा नहीं की गई? इत्यादिका विचार करनेके पश्चात् देहके लौकिक सम्बन्धसे रहित होकर आज्ञाका पालन करना उचित है। इस श्लोकमें 'स्वामीके अधीन होनेसे' इस पदकी योजना बारबार करनी चाहिये।

भगवदाज्ञाका विचार करो

मैं स्वामीके अधीन हुं, ऐसी भावनापूर्वक जो सेवा की जाय, और उसमें श्रीमहाप्रभुजीकी आज्ञाकी अपेक्षा अधिकता दर्शानेवाली, अथवा आग्रहको दर्शानेवाली, अथवा प्रतिदिन

क नियमसे विशेषता दर्शानेवाली पूर्वविलक्षण यदि भगवदाज्ञा हो, तो उसके प्रयोजकका विचार करना चाहिये । यह आज्ञा अन्तःकरणगोचर है या नहीं ? अर्थात् अभिप्रायपूर्वक आज्ञा की गई है या नहीं ? अथवा अन्तःकरणके किसी प्रसङ्गके उद्देशसे यह आज्ञा की गई है ? स्वप्नद्वारा अथवा अन्यद्वारा यह आज्ञा नहीं हुई है ? इत्यादिका विचार करना आवश्यक है । यदि यह आज्ञा अभिप्रायपूर्वक अन्तःकरणमें प्रकाशित हुई है, और स्वप्नादिकी आज्ञाके विषयमें आज्ञाके प्रयोजकका विचार करना आवश्यक है, यदि आज्ञा देहसम्बन्धी है तो यह आज्ञा भगवान्ने अभिप्रायपूर्वक नहीं की है, किन्तु परीक्षार्थ की है, ऐसा मानकर तदनुसार विशेष कार्योंका आयोजन न करना उचित होगा । परन्तु यह आज्ञा यदि सेवाविषयक है या प्रतिबन्धविनाशक है तो वह अभिप्रायपूर्वक की गई है, ऐसा मानकर तदनुसार कार्योंका आयोजन करना चाहिये । अथवा तीर्थदेशान्तरादि आज्ञा हो तो उसका भी पालन करना चाहिये ।

इस प्रकार बाह्य विवेककी रक्षा, आन्तरविवेकका आचरण एवं दोनों आज्ञाओंका विरोधपरिहार किया गया है । इससे पूर्वोक्त सर्व योग्य ही है । क्योंकि पुष्टिमार्गके अनेक प्रकार भगवदाज्ञासे ही प्रकट होते हैं । " सर्व धर्मोंका त्याग कर मेरे शरणमें आ, " " हे उद्धव ! तू सर्व नोदना(प्रेरणा)ओंको छोडकर मेरे शरणमें आ, " " अखिल संशयादिको छोडकर भगवान्का भजन करो " इत्यादि वाक्योंसे शरणागति तथा सेवाको सिद्ध करना ही भगवदाज्ञाका तात्पर्य है । " जो मेरा अनन्यभावसे भजन करते हैं, उनके योगक्षेमका मै ही निर्वाह करता हूं । " इस वाक्यके अनुसार भगवान् ही सर्व प्रकारसे निर्वाहक होनेसे भगवदाज्ञामें किसी प्रकारकी शङ्का ही उपस्थित नहीं करनी चाहिये ॥३॥

दैहिक विषयसे भिन्न प्रकारकी भगवदाज्ञा होनेके पश्चात् उस आज्ञाके अनुसार यदि आचरण न कर सके और किसी प्रकारकी आपत्ति उपस्थित होजाय, तो क्या करना उचित है ? यदि आज्ञाका पालन किया जाय तो आपत्ति उपस्थित होती है,और यदि उसका पालन न करे तो आज्ञाभग्न होता है, इस प्रकार उभयतः पाशारज्जुन्यायके उपस्थित होने पर भक्तोंको क्या करना उचित है उसका उपाय कहते हैं:—

आपद्गत्यादिकार्येषु हठस्त्याज्यश्च सर्वथा ।
अनाग्रहश्च सर्वत्र धर्माधर्माग्रदर्शनम् ॥ ४ ॥
विवेकोऽयं समाख्यातः,

जिन कार्योंमें आपत्ति प्राप्त होती है, वैसे अशक्य कार्योंको सम्पादन करनेमें आग्रह-

का त्याग करना उचित है । अनायास सिद्ध हो उतना ही कार्य करना चाहिये । देहसम्बन्धी तथा अन्य कार्योंमें सर्वथा आग्रहका त्याग करे । और विहित तथा निषिद्ध कर्मोंके परिणामका विचार करना चाहिये । इस प्रकार विवेककी रक्षाका प्रकार कहा है ।

हठत्याग.

"मैं, स्वामी—भगवान्—के अधीन हूं" इस प्रकार विचारकर जिनमें आपत्ति हो, वैसे अशक्य कार्योंको सम्पादन करनेमें अनाग्रहयुक्त होवै । क्योंकि भगवान्का अभिप्राय भक्तोंका निर्वाह चलानेका होता है, और यदि भक्त आग्रहपूर्वक किसी कार्यको सम्पादन करेगा तथा उसमें आपत्ति आवेगी तो निर्वाहमें भी प्रतिबन्ध उपस्थित होगा । अत एव यहां उपर्युक्त दोनों आज्ञाओंके तारतम्यका विचार करते हुए प्रतिबन्धक आज्ञा भगवान्को अभिप्रेत नहीं है, किन्तु यह आज्ञा परीक्षार्थ है, ऐसा समझना उचित होगा। "भक्तोंके कार्यमें कालादि भी प्रतिबन्ध नहीं कर सकते," इससे मानना पडेगा कि भक्तोंके निर्वाहमें आपत्ति करनेकी इच्छा भगवान्की नहीं है । भगवान् स्वयं कहते हैं कि "जिन्होंने लोकवेदके धर्मोंको मेरे अर्थ त्याग किया है, वैसे भक्तोंको मैं स्वयं धारण करता हूं ।" अर्थात् भक्तोंकी रक्षा भगवान् ही करते हैं । इससे यह सिद्ध होता है, कि आपत्तिको उपस्थित करनेवाली आज्ञा भगवान्की आज्ञा नहीं है, किन्तु ऐसी आज्ञाएं परीक्षाके अर्थ की जाती हैं । अत एव ऐसी आज्ञाओंके पालन करनेका आग्रह न करना ही उचित है। यदि हठ किया जाय तो उसका परिणाम अनिष्टकारक ही होगा। अर्थात् सेवामें प्रतिबन्ध होगा । अत एव हठका त्याग अवश्य कर्तव्य है । इस प्रकार आज्ञाके हेतुका विचार करनेसे अभिमान दूर होगा तथा विवेककी रक्षा भी होगी । हठ करनेसे विवेकका नाश होगा । इस प्रकार हठत्यागका उपदेशकर विवेककी रक्षाका द्वितीय साधन कहा ।

अब देहसम्बन्धी आज्ञाकी व्यवस्था कहते हैं । देहसम्बन्धी तथा देहके सम्बन्धसे सम्बन्ध रखनेवाले अन्य कार्योंमें भी आग्रह न करना चाहिये । स्वतः सिद्ध अथवा अनायास सिद्ध कार्योंको ही होने देना चाहिये । परन्तु जिन कार्योंमें सेवाका त्याग करके प्रयास करना पडता है वैसे कार्योंके प्रति उदासीन रहना ही योग्य होगा । यही विवेककी रक्षा है। "मैं भगवान्के अधीन हूं" इस प्रकार विचार करनेसे ही बुद्धिमें विवेकका प्रवेश होता है ।

मान लिया कि लौकिक कार्योंमें आग्रह न करे । किन्तु वेदविहित कार्योंको तो वेदविधिरूप भगवदाज्ञा होनेसे उसमें आग्रह रखना उचित है या नहीं ?

धर्म और अधर्म अर्थात् विहित कर्म तथा निषिद्ध कर्मोंके परिणामका विचार करके इनकी व्यवस्था करनी उचित है । यथा पौराणिक, स्मृत्युक्त, वैदिक, ये कर्म उत्तरोत्तर बल-

वान् है। उसी प्रकार शारीरिक (दैहिक), आत्मिक तथा भगवत्सम्बन्धी कार्य भी उत्तरोत्तर बलिष्ठ हैं। इनमें भगवद्धर्मका जो पालन किया जाता है, उसको बाधा न पहुंचाकर अन्य कार्य करने चाहिये। इस धर्म और अधर्मके विचारमें भी "मैं स्वामीके अधीन हूं" ऐसी बुद्धिपूर्वक विवेककी रक्षा करे।

इस प्रकार विवेचनपूर्वक विवेक दर्शाया है। यही सत्य विवेक है। इसके अतिरिक्त नहीं है। विवेकका विवेचन प्रमाण एवं युक्तिपुरःसर कियागया है ॥ ४ ॥

इस प्रकार विवेकका विवेचन कर अब क्रमप्राप्त धैर्यका निरूपण करते हैं:—

धैर्यन्तु विनिरूप्यते ॥ ५ ॥

त्रिदुःखसहनं धैर्यमामृतेः सर्वतः सदा।
तक्रवदेहवद्ज्ञाव्यं जडवद्गोपभार्यवत् ॥ ६ ॥

अब धैर्यका निरूपण किया जाता है। मृत्युपर्यन्त सर्वतः निरन्तर आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक तीनों प्रकारके दुःखोंको सहन करना चाहिये। धैर्यको सहन करनेमें छाचवाली रानीके देहकी भांति, जडकी भांति एवं गोपभार्याओंकी भांति भावना करनी चाहिये।

धैर्य.

पूर्वोक्त प्रकारसे विवेककी रक्षामें जिह्वा, उपस्थ आदि इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करने के अर्थ धैर्यकी आवश्यकता होनेसे उस समय धैर्य कह दिया है, पुनश्च यहां धैर्यका निरूपण किसलिये किया है? इसके उत्तरमें कहना पडेगा कि विवेकका स्वरूप हृदयारूढ हो जानेके पश्चात् धैर्य आप ही आप सिद्ध हो जाता है, परन्तु वह धैर्यके स्वरूपको यथार्थ रीत्या समझे विना अथवा उसकी यथार्थ रीतिसे रक्षाके विना धैर्य रहता नहीं है, अतः उसके स्वरूपको एवं उसकी रक्षाके प्रकारको कहनेकी आवश्यकता है। वह इस प्रकार है—मृत्युपर्यन्त निरन्तर आधिभौतिक, आध्यात्मिक एवं आधिदैविक—कायिक, वाचिक एवं मानसिक काल, कर्म, स्वभावसे होनेवाले धर्म, अर्थ, कामके सम्बन्धवाले तीनों प्रकारके दुःखोंको सहन करना, उनकी उपेक्षा करना, उनके परिहारके उपायोंकी योजनाके विना ही उनको भोगना, (सहन करना) अनुभव करना, यही धैर्य है।

यहां शङ्का हो सकती है कि भगवद्भक्तोंको आधिभौतिक दुःख नहीं होते, और न उनको कामादिजन्य दुःख ही हो सकते हैं; तो फिर वे इनको किस प्रकार सहन करें? इसका उत्तर इस प्रकार है—भगवान् भक्तोंकी परीक्षाके लिये कालादिको प्रेरणा करते हैं। तब भगदाज्ञाका भङ्ग होता है, इस भयसे कालादिक बाधा करते हैं। क्योंकि "मेरे भयसे वायु बहती है" इत्यादि वाक्योंसे ज्ञात होता है भगवान्का भय इनको भी है।

परन्तु पुनरपि यह शङ्का उपस्थित होती है, कि भगवान् सर्वज्ञ हैं उनको परीक्षा करनेसे क्या प्रयोजन ? भगवान् भक्तोंपर दया करते हैं, परीक्षार्थ भक्तोंको दुःख देना क्या योग्य हो सकता है ? इसका उत्तर यों है—ज्ञानमार्गमें सर्वज्ञत्वादि धर्म साधारणेच्छासे भगवान्में प्रकट रहते हैं। किन्तु पुष्टिमार्गमें तो विशेष रमणेच्छामें रमणेच्छाके अनुसार ही करते हैं। अर्थात् परीक्षामें पुष्टिमार्गकी रीतिसे किसी प्रकारकी अनुपपत्ति नहीं है। अन्तरङ्ग भक्तोंकी भी "आपका स्वागत हो मैं आपका क्या प्रिय करूं ?" इत्यादि वाक्योंसे परीक्षा की थी। द्वारकालीलामें भी लोकरीतिके अनुसार अन्तःपुरमें रमण किया है। तथा "भक्त मुझसे अतिरिक्त अन्यको नहीं जानता, और मैं भक्तके अतिरिक्त कुछभी नहीं जानता हुं" इत्यादि वाक्योंसे भक्तिमार्गीय रीतिके अनुसार भगवान् भक्तसे अतिरिक्त कुछभी नहीं जानते हैं। अतः समझना चाहिये कि भक्तिमार्गमें भगवान् वारवार लोकरीतिको दर्शाते हैं। इस लौकिक रीतिसे अब परीक्षा करना अनुचित नहीं है। अब भक्तको दुःख क्यों दिया जाता है इसका भी उत्तर सुन लीजिये। भगवान् भक्तको साक्षात् स्वरूपका दान करते हैं। साक्षात् स्वरूपके दानके लिये भक्तके धैर्यकी परीक्षा करना आवश्यक है। जैसे बालकको पढानेमें ताडन "ताडन" नहीं है किन्तु परिणाममें सुख है। उसी प्रकार यह परीक्षार्थ दुःखदान भी "दुःख" नहीं है, किन्तु स्वरूपदानमें कारण होनेसे सुखस्वरूप है।

आधिभौतिक दुःख.

धैर्यका स्वरूप कहकर दृष्टान्तपूर्वक उसकी रक्षाका प्रकार कहते हैं। छाचवाली राजाकी भार्याके देहके समान भावना अपने देहमें करनी चाहिये। राजभार्याकी आख्यायिका इस प्रकार है:—

* एक रानीका किसी पामर पुरुषके साथ स्नेह होगया। एक दिन उसने रानीको अपने साथ देशान्तरमें चलनेको कहा। रानीने संकेत किया कि वनमें असुक स्थानमें मैं राजाको मारकर आऊंगी। तदनुसार व उस वनमें गया। इस रानीने घर जाकर राजाका काम तमाम किया, और वनमें पहुंचकर देखती है तो जारपतिको सांपने काट खाया है। उसको मराहुआ देखकर वह वनसे निकलकर किसी नगरमें पहुंची और इधर उधर भटकती हुई भाग्यवशात् वेश्या होगई। इस अवस्थामें अज्ञानवश अपनेही पुत्रके साथ रति की, जब इस बातका उसको ज्ञान हुआ तब वह पश्चात्ताप करके आत्महत्या करनेके लिये स्मशानमें

* हत्वा नृपं पतिमवेक्ष्य भुजङ्गदष्टं देशान्तरे विधिवशात् गणिकास्मि जाता।
पुत्रं पतिं समधिगम्य चितां प्रविष्टा शोचामि (नि) गोपगृहिणि कथमद्य तक्रम् ॥

गई और चितामें बैठ गई। किन्तु चिताका ताप सहन न कर सकनेके कारण वहांसे भागी तो एक गोप मिलगया, उसके साथ रहने लगी। और गोरस बेचकर आजीविका चलाने लगी। एक दिन कई गोपपत्नियोंके साथ वह भी छाच बेचनेके लिये जाती थी। उस समय किसी अचिन्त्य विघ्नके उपस्थित होनेपर सबकी मथनीएं फूट गई उस समय और स्त्रियें शोक करने लगीं; तब व हंसती रही। पूछनेपर उसने अपना पूर्ववृत्तान्त कह सुनाया और कहा कि मैंने कई प्रकारके कष्ट उठाये है, तो अब में छाचके लिये क्यों रोने बैठूं ? इस आख्यायिकासे यह शिक्षा मिलती है कि जिस प्रकार उस गोपपत्निने स्वदेहपोषणका साधन (छाच)के नष्ट होजाने पर दुःख सहन किया पर शोक न किया, उसी प्रकार अधिभौतिक, लौकिक साधनमें उपयोगी पुत्र, धन आदिका नाश होजानेपर भी शोक न करना चाहिये। और उसके परिहारका उपाय न करके दुःखको ही सहन करना चाहिये। दुःख सहन करनेके समय उपर्युक्त आख्यायिका स्मरणमें रखनी। वैष्णवत्व प्राप्त होनेके पश्चात् गृह, धन आदि वस्तुओंका त्याग करना उचित है। निबन्धमें श्रीमदाचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि "यदि गृहादि प्रतिकूल हों तो उसका त्याग करनेमें दोष नहीं है।"

अब दूसरा दृष्टान्त कहते है। यह देह किसका है ? आधान करनेवालेका, माताका, पितामहका, मातामहका, बलिका, यज्ञका या अग्निका ? इस प्रकार विचारनेसे देह साधारणतया अपना नहीं है, किन्तु अदृष्टद्वारा हुआ है, अतः माता पिता आदि भी साधारण सम्बन्धी है। इस प्रकार चित्तमें साधारणताका अनुसन्धान कर अभिमानका त्याग करे। यह दृष्टान्त भौतिक, कायिक कर्मजन्य एवं आर्थिक दुःख सहन करनेके लिये कहा गया है।

आध्यात्मिक दुःख.

आध्यात्मिक दुःखको सहन करनेमें दूसरा दृष्टान्त कहते है। जैसे जडभरतने मुक्तिका साधन विद्यमान होने पर भी मृगशरीर प्राप्त होनेपर जो दुःख हुआ वह तथा भ्रातृवर्ग, स्त्रीवर्गका दुःख भद्रकालीके वरदान समयका दुःख और अन्तमें रहूगणराजाकी शिबिका (पालकी) उठाने तकका दुःख सहन किया। उसी प्रकार भक्त भी आध्यात्मिक दुःख सहन करे। और उस समय जडभरके दुःखोंका स्मरण करे। लौकिक देहके पश्चात् सेवोपयोगी देह प्राप्त होनेमें विप्रयोग आदि दुःखोंको सहन करनेके लिये जडभरतके दुःखोंको भावना करनी उचित है। भावना करनेसे यह तात्पर्य है कि यह दुःख दूर नहीं हो सकता अतः उसको दूर करनेके लिये प्रयत्न करे।

आधिदैविक दुःख.

स्वाभाविक अर्थात् आधिदैविक दुःख सहन करनेमें गोपस्त्रियोंका दृष्टान्त कहते है।

मूलमें गोपभार्याशब्द समूहवाचक है। यथा अन्तर्गृहगता गोपसीमन्तिनीयोंको भगवान्के विरहका दुःख सहन कर पुनरपि ध्यानप्राप्त परमात्माके सान्नियसुखका अनुभव करके पापपुण्यकी निवृत्ति होनेपर निर्गुण देह प्राप्त करके परमात्माको प्राप्त हुई। इसी प्रकार में भी प्रारब्ध आदिसे उत्पन्न हुए दुःखोंको सहन कर परमात्माको प्राप्त करूंगा। इस प्रकार आधिदैविक दुःखको सहन करनेके लिये गोपभार्याओंका अनुस्मरण करना उत्तम है ॥ ६ ॥

यहां एक बात विचारणीय रहजाती है, वह यह कि यदि यदृच्छासेही दुःखका उपाय प्राप्त हो जाय तो भी—दुःखही सहन करना चाहिये, ऐसा कहाजाय तो दुराग्रह होकर विवेकहनी और आज्ञाभङ्ग होता है। दूसरी ओरसे यदि अनायास प्राप्त उपायोंसे दुःखका दूर होने दिया जाय और स्वयं मौन ग्रहण करे, तो दुःखके अभावमें धैर्यहानी और आज्ञाभङ्ग होता है, ऐसी उभयतःपाशारज्जुवत् स्थितिमें क्या करना उचित है?

प्रतीकारो यदृच्छातः सिद्धश्चेन्नाग्रही भवेत्।
भार्यादीनां तथान्येषामसतश्चाक्रमं सहेत् ॥७॥

भगवदिच्छासेही यदि दुःखनिवारणका उपाय प्राप्त हो जाय तो दुराग्रही न होवे। स्त्रीपुत्रादि एवं तटस्थोंके आक्रमण को सहन करे। अर्थात् भगवदिच्छासे विना किसी प्रकारके प्रयत्नसेही दुःख दूर होता हो तो फिर दुःख सहन कर धैर्यकी—रक्षका दुराग्रहभी न करना ही उचित होगा। इस प्रकार दुराग्रह (निन्दित आग्रह)का त्याग करनेसे धैर्यकी सिद्धि होती है। और भगवदिच्छाका अनुसन्धान होनेसे विवेक भी सिद्ध होता है। तात्पर्य यह कि विवेक और धैर्य ये दोनों आज्ञापूर्वक होनेके कारण उभय आज्ञाओंका इसमें भङ्गभी न होगा।

उपायोंकी योजना.

अथवा इस प्रकार योजना करे। जडभरतकी तरह अथवा गोपभार्याओंकी तरह दुःखनिवारणके उपाय भगवान्की ही इच्छासे प्राप्त होनेपर दुराग्रह न करके उन उपायोंकी योजना करै। जडभरतने भगवदिच्छासे रहूगण राजासे सम्वाद होनेपर शिबिका (पालकी) उठानेमें आग्रह नहीं किया। इसी प्रकार रासमें भी गोपीजनोंने विरहतापके समयमें भगवदिच्छासे गुणगान, स्मरण एवं रूपदर्शन इत्यादि उपाय प्राप्त होनेपर दुराग्रही न होकर भगवान्की इच्छाके अनुसार वर्तन किया। उसी प्रकार हमको भी स्वाधिकारानुसार दुःखनिवर्तक उपायकी भगवदिच्छासे प्राप्ति होनेपर आग्रही न होना चाहिये। तीव्र ताप (दुःख) के समयमें शीघ्रतासे आश्रयका दान करनेके लिये स्वयं भगवान् ही दुःख दूर करनेके उपायोंको बताते है। और क्वचित् नहीं भी बताते। अत एव भगवदिच्छा पर भी आधार करके स्वयं उन उपायोंके लिये कुछ भी प्रयत्न न करै, तो भगवान्की अनिच्छा होनेपर

भी उपायोंकी योजना की जाय तो भगवान्‌की इच्छासे विरुद्ध होनेके कारण कोपसे विपरीत परिणाम भी उत्पन्न हो सकता है ।

अब कायिक रक्षाकेसाधनका उपाय कहते हैं। भार्या शब्दसे यहां उसके गणसहित ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिये । अर्थात् भरण पोषण करने योग्य स्त्री आदिके अतिक्रमोंको भी सहन करे । विभक्त एवं अविभक्त बन्धुओंके भी अतिक्रमों (अपमान)को सहन करना चाहिये । उसी प्रकार दुर्जनों के भी आक्रमणोंको सहन करे । यहां असतः शब्दको भिन्न कहनेसे यह सूचित करते हैं कि भार्या बन्धु आदिकी अपेक्षा दुर्जनोंका अतिक्रमण दुःसह होता है । "मैं दुर्जनके आक्रमणको दुःसह मानता हूं" इस वाक्यसे उसकी दुःसहता निरन्तर होती है, यह स्पष्ट करके बताया है ।

इन लोगोंके तिरस्कार, भक्तको सहन करना ही चाहिये, इतना ही नहीं, पर यदि वे लात भी मारैं तो उसे भी सहन करै* । इस प्रकार तीनों (भार्यादि, अन्य एवं असत् अर्थात् दुर्जन) के आक्रमणको सहन करनेको कहा है । यदि ये सेवामें प्रतिकूल हों तो उनका त्याग करे । और तज्जन्य दुःख सहै । और यदि विवेककी रक्षामें ही बाधक हों, सेवामें बाधक न हों, तो उनका तिरस्कार सहन करै । ऐसा ही प्रकार निबन्धमें भी बताया है । भगवान् सर्वमें विराजते हैं, ऐसी श्रीकृष्णभावनासे सर्व प्रकारके कटुवचनोंको सहन करैं, क्योंकि भगवान् स्वयं उसके हृदयमें विराजित होकर उससे तिरस्कारव्यंजक वाक्योंका उच्चारकराकर हमको उपदेश देते हैं ॥ ७ ॥

इसप्रकार तिरस्कारको सहन करनेका उपदेश घरमें स्थिति करनेके हेतु किया गया । और घरमें स्थिति करनेवालेको इन्द्रियसम्बन्धी—कार्य अवश्य ही करना पडते हैं । इन्द्रिय-सम्बन्धी कार्योंको करनेसे अशक्ति (भगवद्भक्तिमें असमर्थता) होकर धैर्यस्वरूप और सामर्थ्य-का नाश होना सम्भव है । इसप्रकार धैर्य और सामर्थ्यका नाश न हो इसलिये धैर्यरक्षाका द्वितीय साधन बताते हैं—

स्वयमिन्द्रियकार्याणि कायवाङ्मनसा त्यजेत् ।
अशूरेणापि कर्तव्यं स्वस्यासामर्थ्यभावनात् ॥ ८ ॥

इन्द्रियोंके कार्योंको मनसा, वाचा, कर्मणा स्वयं ही छोडना चाहिये । स्वभाव और

---

*यहां सहनशीलताका उपदेश किया गया है, न कि कायरताका । भक्तको भगवान्‌की इच्छा एवं आज्ञाका पूर्वोक्त प्रकारसे विचार करना चाहिये । भगवान् यदि परीक्षार्थ दुःख दान करैं और भक्त उसको सहन न कर सके तो धैर्यभङ्ग होता है । धैर्यका अर्थ हाथ पर हाथ धरकर बैठजाना नहीं है । ऐसा करना कायरता है । दुःखकी अवस्थामें क्या करना चाहिये इसका निर्णय आगे चलकर होगा । **अनुवादक ।**

इन्द्रियोंको जीतनेमें असमर्थ पुरुष भी अपनी असमर्थताका विचार करके उन कार्योंको त्याग देवै, जिनसे कि इन्द्रियोंका उत्तेजित होना सम्भव है ।

भक्त स्वयं ही आग्रहपूर्वक इन्द्रियोंके कार्योंको जिनमें ज्ञानक्रिया प्रधान है ऐसे भोगोंको भी, मन, वाणी एवं कर्मसे छोड देवै । खेलमें भी उनका स्वीकार न करै, क्यों कि इन्द्रियकार्य अत्यन्त बाधक है । "विषयोंका ध्यान करनेवाले पुरुषको विषयोंका सङ्ग होता है" गीताके इस वाक्यसे उनकी बाधकताका स्पष्ट ज्ञान होता है । भोग्य पदार्थोंका स्वीकार न करना कायिक त्याग है । निःस्पृह होना मानसिक त्याग है । यहां ऐसी शङ्का भी न करनी चाहिये, कि आग्रह पूर्वक त्याग करनेसे विवेककी हानि होगी । क्योंकि आग्रहका उपभोग्य वस्तुओंमें ही समावेश हो जानेसे विवेकभङ्ग न होगा ।

अब यहां शङ्का होती है, कि मूल श्लोकमें स्वयं भोगके साधनोंका त्याग करनेको कहा है । अर्थात् स्वयं ऐसा कोई प्रयत्न न करे, किन्तु यदृच्छासे (अनायास) जो प्राप्त होजाय उसका त्याग न करना चाहिये ऐसा ज्ञान होता है । यदि अनायास प्राप्त होनेवाले भोगका त्याग किया जाय तो शरीरयात्राका निर्वाह न हो सकेगा और साधन करनेकी शक्तिका नाश होजायगा । और यदि भोगोंका त्याग न किया जाय तो भोग विषयरूप होनेसे बन्धन करनेका उनका स्वभाव इन्द्रियोंको आकर्षित करता है । और विषयाकृष्ट इन्द्रियोंसे परिणाममें क्रमशः सर्वनाशका प्रसङ्ग प्राप्त होता है । विषयोंसे बचनेकेलिये इस समय स्वभाव पर विजय प्राप्त करना भी अशक्य है । क्योंकि आरम्भदशामें इन्द्रियोंके स्वभावपर विजय प्राप्त करनेकी सामर्थ्यका अभाव रहता है । स्वभावविजय यानी पराक्रम । पराक्रम शूरताका द्योतक है । अब एसी अवस्थामें हमको किस प्रकार धैर्यकी रक्षा करनी चाहिये?

इसका समाधान निम्न लिखित प्रकारसे हो सकता है । स्वभाव और इन्द्रियोंको जीतनेमें असमर्थ पुरुषको भी असामर्थ्यभावनासे इन्द्रियके कार्यरूप भोगोंका अवश्य त्याग करना चाहिये । मैं क्या करूं ! मैं मन्दभागी हूं, असमर्थ हूं मुझसे इतनीसी आज्ञाका भी पालन नहीं हो सकता । इत्यादि प्रकारसे भावना करते करते भोगोंका त्याग अवश्य कर्तव्य है । इसप्रकार यत्न करनेवालेको ग्लानि होनेसे इन्द्रियोंकी तीव्रता शान्त होगी । और क्रमशः स्वविषयोंसे आकृष्ट होनेपर भी धैर्यकी सिद्धि होगी ।

यदि इतना भी न कर सके, तो उसके लिये उपायान्तर का आयोजन करते हैं—

अशक्ये हरिरेवास्ति, सर्वमाश्रयतो भवेत् ।
एतत्सहनमत्रोक्तम्,

इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना अशक्य होने पर भी सर्व दुःखोंको हरनेवाले भगवान्का

ही शरण है ऐसा मानना चाहिये। क्योंकि शरणसे ही सर्व कार्य सिद्ध होते हैं। इस प्रकार धैर्यका निरूपण किया गया है।

अशक्य भी सुशक्य होता है.

इन्द्रियनिग्रह करनेमें जब असमर्थ हो जाय तब दयामय भगवान्के शरणका विचार करै। क्या शरणके उपदेशसे ही सिद्धि होती है? हां, अवश्य ही शरणसे सिद्धि होगी। भगवान्के आश्रयसे सब कुछ सिद्ध होता है। सर्वधर्मान् परित्यज्य इस वाक्यसे भगवान्का शरण ग्रहण करनेसे वे सब प्रकारके पापोंसे बचाते हैं, साथ ही शोकके निवारणपूर्वक आश्रयसे सब कुछ सिद्ध होता है।

इस प्रकार सपरिकर धैर्यका निरूपण करके उपसंहारमें धैर्यके अनन्तर आश्रयका निरूपण करेंगे, ऐसा सूचन करनेके लिये 'इस प्रकार धैर्य कहा' ऐसा कहते हैं। शरणमार्गमें साधनपूर्वक धैर्य कहा। अर्थात् जब धैर्यकी रक्षा करनेमें असमर्थ होजाय तब भगवान्का ही शरण है, इसप्रकार आश्रय शरण धैर्यके प्रकरणमें कहनेसे वह आश्रय भी धैर्यरूप ही है। यहां आश्रयका स्वरूप बतानेमें नहीं आया है।

अब क्रमप्राप्त प्रधानरूप आश्रयका निरूपण करते हैं। भगवान्को शरण जानेकी आज्ञासे ही आश्रयके स्वरूपका ज्ञान नहीं होगा। अतः पुनः सपरिकर आश्रयका निरूपण करते हैं। आश्रयका अर्थ है आधार। यह योगरूढ अर्थ है। आश्रय यानी सेवा। यह यौगिक अर्थ है। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'आ' आसमन्तात् 'श्रयणं' सेवनं अर्थात् "चारों ओरसे सेवन करना" यह आश्रयका पर्याय हुआ। इन दोनोंमेंसे यहां किस अर्थका अनुसरण करना उचित है?

आश्रयोऽतो निरूप्यते ॥ ९ ॥

ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरणं हरिः।
दुःखहानौ तथा पापे भये कामाद्यपूरणे ॥ १० ॥
भक्तद्रोहे भक्त्यभावे भक्तैश्चातिक्रमे कृते।
अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः ॥११॥
अहङ्कारकृते चैव पोष्यपोषणरक्षणे।
पोष्यातिक्रमणे चैव तथाऽन्तेवास्यतिक्रमे ॥ १२ ॥
अलौकिकमनःसिद्धौ सर्वार्थे शरणं हरिः।
एवं चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तयेत् ॥ १३ ॥

अन्यस्य भजनं तत्र स्वतो गमनमेव वा ।
प्रार्थनाकार्यमात्रेऽपि तथान्यत्र विवर्जयेत् ॥ १४ ॥
अविश्वासो न कर्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः ।
ब्रह्मास्त्रचातकौ भाव्यौ प्राप्तं सेवेत निर्ममः ॥ १५ ॥
यथाकथञ्चित् कार्याणि कुर्यादुच्चावचान्यपि ।
किं वा प्रोक्तेन बहुना शरणं भावयेद्धरिम् ॥ १६ ॥
एवमाश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितम् ।

अब आश्रयका निरूपण किया जाता है । इस लोकसम्बन्धी और परलोकसम्बन्धी सर्व प्रकारके दुःखोंको हरनेवाले भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका ही शरण है । दुःखोंको दूर करनेके लिये तथा सेवामें जो प्रतिबन्धक हों उनमें, भयमें, लौकिक तथा अलौकिक कामके पूर्ण करनेमें अथवा मनोरथोंकी पूर्ति न हो तो, भक्तका द्रोह हो जानेपर, भक्तोंके द्वारा अपमानित होने-पर जीवकी कृतिसे साध्य एवं असाध्य ऐसे सर्व कार्योंमें सर्व प्रकारसे भगवान् ही शरण है । अहङ्कार हो जानेपर, स्त्रीपुत्रादिके भरण पोषण करनेमें अथवा इनके तिरस्कार करनेपर मनको अलौकिक बनानेमें तथा सर्व पुरुषार्थोंको सिद्ध करनेमें भगवान् श्रीकृष्णका ही शरण है, ऐसा चित्तमें विचारे तथा वाणीसे रटन करे । अन्य देवका भजन अथवा देवतान्तरके मन्दिरमें चलाकर न जावै । इतना ही नहीं परन्तु अन्यदेवकी प्रार्थना भी न करे । भगवान् पर अविश्वास न करे, क्योंकि वह सर्वथा बाधक है । अविश्वासमें ब्रह्मास्त्र एवं चातक पक्षीकी भावना करनी । (ब्रह्मास्त्रकी आख्यायिका टीकामें की जायगी,) और अहन्ताममताका त्याग कर प्राप्त परिस्थि-तिके अनुसार आचरण करे । अलौकिक तथा लौकिक (व्यवहारोपयोगी) कार्योंको भी यथाशक्ति करे । अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं, यावत्कार्योंमें श्रीहरिके शरणका ही विचार किया जाना चाहिये । इस प्रकार सबको सर्वकालमें हितकारी शरण (आश्रय) कहा है ।

'हरि' और 'शरण'की व्याख्या.

"मेरा स्मरण करनेवालेके पापोंको मैं हरता हूँ, यज्ञमें हविके भागको ग्रहण करता हूँ, और मुझे रंग भी हरित ही प्रिय है, अतः मैं हरि कहलाता हूँ ।" इस प्रकार महाभारतमें भगवद्वाक्य होनेसे स्मरण करनेवालेके पापोंको और पापोंके फलको—दोनोंको हरनेवाले, सर्व देवोंके आ-त्मरूप, सब देवोंके नियामक, स्वयं श्यामवर्ण श्रीपुरुषोत्तम 'हरि' हैं । 'श्यामाच्छबलम्' इस श्रुतिमें भगवान्को श्यामवर्ण कहा है । ऐसे श्यामवर्ण भगवान् इस जन्मसम्बन्धी कार्योंमें, फलभोगमें, अपने मनसे इच्छित सेवादि साधनोंमें, दूसरे (आगामी) जन्मके सुखदुःखके फलोपभोगमें, अपने मनसे इच्छित सेवादि साधनोंमें, तथा सेवाके साधनोंके सम्पादन कर-नेमें, सर्वथा यह श्रीहरि ही हमारा शरण है । शरण शब्दके रक्षक, घर तथा वधके समय

रक्षा करनेवाला इतने अर्थ होते हैं। इन सब अर्थोंका स्वरूप भगवान् ही हैं। अर्थात् उन सब प्रमाणोंमेंसे (अनेक प्रकारकी भूलोंसे) बचानेवाले भगवान् श्रीहरि श्रीकृष्णचन्द्र है। तत्तत्स्थलोंमें भगवान् गृहरूप हैं, और तत्तत्प्रतिबन्धोंसे निवृत्त करते हैं। तत्तत्स्थलोंमें अर्थात् सर्व स्थानमें भगवान् वध–नाश–से भी बचाते हैं। इस प्रकार निरन्तर अनुसन्धान करना उचित जान पडता है। उसका नाम ही आश्रय है। अतः यहांपर चित्तकी भगवानमें एकतानतारूपी सेवाको ही आश्रय कहा है। अन्य टीकाकारोंने भी "मेरा आश्रय लेकर जो यत्न करते हैं," तथा "मेरा आश्रय लेकर पापयोनिवाले स्त्री, वैश्य तथा शूद्र भी श्रेष्ठ गतिको प्राप्त करते हैं।" इन वाक्योंमें चित्तकी एकतानतारूप, अन्यायश्रयके त्यागपूर्वक भगवच्छरणागतिको ही आश्रय कहा है। श्रीरामानुजाचार्यजीने भी "उसीके शरण जा" इस वाक्यानुसार भगवदनुवर्तन अर्थात् भगवदनुसरणको ही शरणागति मानी है। और शाङ्करभाष्यमें तो "तू मेरे शरण आजा" इस वाक्यसे भगवान्‌से अतिरिक्तका अनुसन्धान न करना ही आश्रय है, ऐसा कहा है। श्रीमधुसूदनजी तो कहते हैं कि "मैं भगवान्‌का, भगवान् मेरे और मैं ही वह" ऐसे तीन प्रकारसे साधन, और अभ्यासके परिणामसे भगवान्‌का शरण है, ऐसा भक्तिपूर्वक अनुसन्धान करनेको आश्रय कहा है। यहां यही स्वीकृत है, किन्तु मायावादनिरासपूर्वक इस प्रकारका भाव अखण्डित रखना ही भगवान्‌के आश्रयके दानका द्योतक है। किसी समय इस अनुसन्धानका विच्छेद हो जाय तो उसको साधन अवस्था समझनी चाहिये। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र मेरे रक्षक हैं इतना ही ज्ञान हो तो, अभी आश्रय होना शेष है ऐसा मानना चाहिये।

आश्रयकी रक्षा करो.

यही आश्रय अनुकल्परूप होता है। इसे भक्तिके अधिकारियोंकी भक्तिको पोषण करनेवाला मानते हैं। तथा भक्तिको उत्पन्न करनेवाला, भक्तिमार्गके पथपर चढानेवाला भक्तिमार्गमें यही अनुकल्प है। इस प्रकार ज्ञानके अधिकारियोंको ज्ञानमें पोषण करनेवाला यह आश्रय ज्ञानमार्गीय भी होता है। इसी प्रकार कर्मफलरूप वैराग्यका पोषण करनेवाला यह आश्रय कर्ममार्गीय भी होता है।

इस प्रकार आश्रयके स्वरूपका निरूपण करके उसकी रक्षाका प्रकार भी कहते हैं। निम्न लिखित प्रसङ्गोंमें निरन्तर चित्तमें श्रीहरिके शरणकी भावना करनी चाहिये। दुःखहानिमें अर्थात् दुःखको दूर करनेके लिये श्रीहरिके शरणका विचार करे। इससे दुःखहानिके लिये शरणागत जीवको भगवान्‌ने शरणका दान दिया है या नहीं, इस अज्ञात संशयसे वा जीवबुद्धिसे उत्पन्न हुए दुःखको दूर करनेके विषयमें भी श्रीहरिके शरणकी भावना करे।

श्रीरघुनाथचरण आज्ञा करते हैं, कि दुःखकी निवृत्ति करनेमें भगवान्का आश्रय भूलना न चाहिये। इसलिये यह उपदेश किया है।

श्रीचाचागोपेशजी—आज्ञा करते हैं, कि जो जीव सेवामें प्रवृत्त होगये हैं, उन भक्ति-मार्गीय जीवोंके दुःखोंको दूर करनेके उपायोंकी आज्ञा न होनेके कारण उन दुःखोंको सहन करनेमें धैर्यकी रक्षा करनी चाहिये, धैर्यकी रक्षा करनेमें चित्तमें उद्वेग होनेकी सम्भावना होनेसे, उस चित्तोद्वेगको दूर करनेको, शरणकी भावनाके अर्थ इस आश्रयका निरूपण किया जाता है।

श्रीगोकुलोत्सवजीने इस विषयमें कुछ भी विशेष विवरण नहीं किया है। इस प्रकार उपर्युक्त टीकाकारोंका आशय उनकी टीकाओंमेंसे ग्रहण करना उचित्त है।

श्रीगोपेशजीने इस प्रसङ्गमें इस प्रकार विषेशता दर्शाई है, कि जो आश्रय भक्तिका निरूपण करनेवाला है, उसका सपरिकर निरूपण किया जाता है।

श्रीरघुनाथजी तथा श्रीगोकुलोत्सवजीने आश्रयको भक्तिको उत्पन्न करनेवाला तथा उसकी वृद्धि करनेवाला भी कहा है। इस विषयमें कुछ विरोध नहीं है। क्योंकि श्रीमहाप्रभुजीके मार्गमें वरण न किये हुए, भक्तोंका स्वभाव अनेक प्रकारका होनेसे उन उन भक्तोंकी रुचि और अधिकारके अनुसार फलसिद्धिके लिये आश्रयके भिन्न भिन्न प्रकार बताये हैं।

(१) **पापमें**—सेवा आदिमें प्रतिबन्धक पाप भाग्यवशात् आजाय तो चित्तमें निरन्तर शरणभावना करनी चाहिये।

(२) **भयमें**—जीव स्वयं तुच्छ होनेके कारण ब्रह्मादि देवोंको भी दुर्लभ भगवच्चरणरेणु मुझे किस प्रकार प्राप्त होगा! ऐसे भयमें अथवा प्रत्येक भयके प्रसङ्गमें चित्तमें शरणकी भावना करै।

(३) **कामादिकी पूर्ति, अपूर्तिमें**—अलौकिक काम जो मुख्य और अमुख्य गुणगानात्मक मोक्षरूप है, उसकी पूर्तिके लिये, अथवा काम यानी मनोरथ पूर्ण न होनेपर चित्तमें शरणभावनाका होना।

(४) **भक्तद्रोहमें**—अपने कामादिकी पूर्तिमें, भक्तोंका द्रोह हुआ हो तो, अथवा कामादिकी पूर्ति अन्यत्र देखनेमें न आवे तो, अथवा मदसे भक्तका अपमान हो जाने पर, अथवा किसी भी कारणसे भक्तका अपराध होजानेपर, चित्तमें सदा शरणकी भावना करै। मर्यादामें भी अम्बरीष राजाका दुर्वासा मुनिने जो अपराध कियाथा, उसको दूरकरनेको मुनिजी समर्थ न हो सके, तो पुष्टिमार्गमें भक्तद्रोहरूपी अपराध होजानेपर तो वह कैसे दूर हो सकेगा! ऐसा भक्तद्रोहरूपी अपराध न हो इसलिये यह उपदेश किया गया है।

(५) **भक्तिके अभावमें**—स्वयं अपनेको वा अपने आत्मियोंको उत्कट भक्तिभाव प्राप्त न हो, अथवा दुःसङ्ग आदिसे भक्तिका नाश होजानेपर चित्तमें सदा शरणकी भावना कर्तव्य है।

(६) **भक्तकृत अतिक्रमणमें**—यदि कोई भक्त अपना अतिक्रमण करे तो उसको सहनेके अर्थ यह उपदेश किया है। भक्त कदापि निमित्तके विना ही किसीका अपमान नहीं करते हैं, तथापि यदि अपमान कर बैठे तो अपनेमें ही कुछ दोष हैं, ऐसा मानकर अपने दोषोंको दूर करनेका प्रयत्न करनेके लिये चित्तमें शरण भावना होनी आवश्यक है।

(७) **अशक्य और सुशक्यमें**—अपनेसे न बनसके तथा बनसके ऐसे सब कामोंमें चित्तमें निरन्तर मनसा, वाचा और कर्मणा शरणकी भावना ही करता रहे। सुसाध्य कार्योंमें भगवान्का स्मरण करनेका कारण यह है, कि उस कार्यमें भी मैंने किया ऐसा अभिमान न हो।

इस प्रकार विस्तारपूर्वक यह उपदेश किया है। विवेकके विना भी असहाय शूरके आश्रयके द्वारा ही सर्व कार्य सिद्ध होते हैं ऐसा दर्शाया है।

(८) **अहङ्कारमें**—अहङ्काररूपी दोषोंको दूर करनेमें शरणभावना है। अहङ्कार जैसे मद आदिमें भी शरणकी भावनाको न भूल जाय। कारण, इस भावनाके विना अन्य कोई भी उपाय, साधक नहीं है।

(९) **पोष्योंके पोषण और रक्षणमें**—पालन करने योग्य कुटुम्बियोंका पोषण और उनकी रक्षाके कार्य को करनेसे सेवामें प्रतिबन्ध होता है, इसी तरह कुटुम्बका पोषण और रक्षण सेवापरायण भक्तसे नहीं हो सकता है, अतः भक्तोंके चित्तमें क्लेश होता है। वह दूर करनेके लिये शरणकी भावना करनी योग्य है।

(१०) **पोष्यवर्गके अतिक्रमणमें**—पोष्यका अर्थ है—जो भरण पोषण करने योग्य हैं। जिनका निवेदन हो चुका है ऐसे पोष्यों (स्त्रीप्रभृति)से यदि अपमानित होना पडे, अथवा अपनेसे उनका तिरस्कार हो जाय, तब भी शरण भावना ही उचित है। क्योंकि आसुरभावके विना तिरस्कारका सम्भव नहीं है। उन व्यक्तियोंमें स्थित आसुरभावको दूर करनेके लिये उपायान्तरकी योजना न करके सदा शरणभावना ही करे।

(११) **विद्यार्थीके अतिक्रमणमें**—यदि कोई विद्यार्थी अतिक्रमण करे तो उसके ऊपर कियेहुए उपकारका स्मरण करके गर्व न करे, किन्तु शरणभावना करे। गर्वसे अनिष्ट होनेकी सम्भावना है, अतः उसकी निवृत्तिके अर्थ यह पृथक् उपदेश किया है।

(१२) **अलौकिक मनःसिद्धिमें**—"मन दो प्रकारका है। शुद्ध और अशुद्ध।

"कामसङ्कल्पयुक्त मन अशुद्ध है और कामरहित शुद्ध है।" इस श्रुतिसे कामसङ्कल्परहित शुद्ध मन सेवा और आश्रयमें अनुकूल होता है। अतः चित्तमें शरण भावना करे।

(१३) **सर्व अर्थमें**—पुष्टिमार्गीय सर्व पुरुषार्थोंको सिद्ध करनेके लिये अतिदीन-भावसे श्रीहरिका शरण विचारणीय है।

इस प्रकार शरणका उपदेश देकर उसकी रक्षाका प्रकार कहते हैं—चित्तमें शरणभाव होनेसे भगवान् आश्रय कराते हैं। आश्रय होनेके पश्चात् क्षणमात्रके लिये भी आसुरावेश नहीं होता है। वाणीसे बारबार शरणका रटन करनेसे शरणमार्गका प्रचार होताहै। अतः "श्रीकृष्णः शरणं मम" इस मंत्रका रटन निरन्तर करते रहना चाहिये। अन्यका—भगवान्से अतिरिक्तका भजन नहीं करना चाहिये। अन्य देवोंकी किसी भी कामनाकी दुराशासे पूजा न करे तथा उनके पास प्रयत्नपूर्वक गमन भी न करे। भगवान् अनन्य भक्तवत्सल हैं। जबतक अन्याश्रय रहता है, तब तक भगवान् जीवको कृपाकी दृष्टिसे नहीं देखते। अन्याश्रयमें भगवान् अपने आश्रयका दान भी नहीं करते। अम्बिकावनमें कौतुकयुक्तचित्तसे श्रीनन्दबावा गये थे, वहां अन्याश्रय होनेसे सर्पका ग्रास होना पडा था। मार्गमें यदि देवालय आ जाय तो उसकी अवगणना न करनी चाहिये। क्योंकि सर्व देवतागण भगवान्के अधीन होकर उनके अवयवरूप हैं। अन्य देवोंके पास प्रार्थना भी न करे और यदि कदाचित् प्रार्थना करनेकी आवश्यकता पडजाय तो एकाधबार भगवान्से ही प्रार्थना करे, परन्तु देवतान्तरके पास नहीं।

प्रार्थनाका अर्थ.

श्रीरघुनाथचरण प्रार्थनाका अर्थ इस प्रकार करते हैं—प्रत्येक कार्यमें भगवान्की विज्ञप्ति करे, कि हे भगवन्! हम विवाहादि कार्योंका प्रारंभ करें? इस प्रकार प्रार्थना करनेकी प्रथा विष्णुधर्मकी शंकरगीतामें भी है। "भगवान्की प्रार्थनाके विना जो भक्त किसी भी कार्यका प्रारम्भ नहीं करता वह भगवान्की मर्यादाका लोप नहीं करता है, उसके ऊपर श्रीकेशव प्रसन्न होता है" इस प्रकार आश्रयका अर्थ विज्ञापन होनेसे पूर्व ग्रन्थके साथ विरोध न आवे उस प्रकार विचार किया गया है। याचनाके व्यवहारमें "यह मुझे दो" इस प्रकार विचारपूर्वक होनेवाले व्यापारको प्रार्थना कहते हैं। किसी भी कारणके विना, किसी भी प्रकारकी इच्छाके विना, अपनी ज्ञात वस्तुका स्वरूपकथन ही विज्ञापन है। इस प्रकार प्रार्थना एवं विज्ञापनके स्वरूपका भेद होनेसे, तथा भगवान्के समीप इस प्रकारके विज्ञापनसे स्वामीकी अधीनताकी भावनाकी स्फूर्ति होनेसे, विवेककी भी रक्षा होती है, अतः विज्ञापन अर्थ योग्य ही है। भगवान् कार्य करने की आज्ञा प्रदान करनेमें विलम्ब करे, तब धैर्यकी आवश्यकता

रहती है, धैर्यकेलिये आश्रयकी आवश्यकता होनेसे, आश्रयके दृढ होते ही, भक्तमें शीघ्र ही अपना कार्य सिद्ध करने की शक्ति आजाती है। भगवान् के पास प्रार्थना करनेकी आज्ञा है। किन्तु यह अन्य देवोंके पास करनेका निषेध है। अतः प्रार्थना और विज्ञापन अन्य देवोंके प्रति न करे। साथ ही अन्य देवोंके प्रति प्रार्थना करनेका मनसे विचार भी न करे। इस प्रकार कायिक आश्रय कहा।

अविश्वास दूरकरो.

अब इन सबकी सिद्धिके अर्थ बाधकके त्यागका निरूपण करते हैं। स्वरूपतः एवं फलतः अविश्वास सर्वथा बाधक है। अज्ञ एवं संशयग्रस्त पुरुष नाशको प्राप्त होता है। संशय न होनेके लिये ब्रह्मास्त्र एवं चातककी भावना करनी चाहिये, अर्थात् अविश्वासकी बाधकतामें ब्रह्मास्त्रका दृष्टान्त है, एवं विश्वासमें चातकपक्षी दृष्टान्तरूप है। इन दोनों के वृत्तान्तका स्मरण करे। जब राक्षसोंने हनुमानजीको लंकामें ब्रह्मास्त्रसे बांधके रावणके सम्मुख उपस्थित किया, तब हनुमानजीको चेष्टा रहित देखकर भी कच्चे डोरोंसे बंधा हुआ जानकर ब्रह्मास्त्र पर अविश्वास कर लोहेकी सांकलोंसे बांधनेका प्रयास करते, ही, ब्रह्मास्त्र निवृत्त हो गया और हनुमानजी लोहशृङ्खलाको तोडकर मुक्त होगये। इस प्रकार ब्रह्मास्त्रसे बांधनेका प्रयास ही व्यर्थ हुआ। इसी प्रकार यहां भी अविश्वास होनेपर भगवान् भी भक्तका त्याग करते हैं। शरणरूप भक्तिमार्गमें किया हुआ प्रयास भी अविश्वाससे व्यर्थ ही होजाता है।

चातकपक्षी एक वर्षतक स्वातिबिन्दुके लिये विश्वास पूर्वक राह देखता है, अतः प्रभु उसके लिये अवश्य ही स्वातिमें जल बरसाते हैं। अत एव श्रीमदाचार्यचरणोंकी वाणीमें—भगवच्छरणागतिमें विश्वास होनेसे सब कार्य सिद्ध होते हैं। तात्पर्य यह कि अविश्वासका त्याग कर प्रभुमें दृढ विश्वास रखने से, जो कुछ भी भगवदिच्छासे प्राप्त हुआ हो, उसीमें सन्तोष मानकर ममता रहित, सेवा करनी चाहिये। लौकिक ममताका त्यागकर यदृच्छासे प्राप्त होनेवाले सुखदुःख एवं साधनोंका अनुभव कर उनमें लेशमात्र भी आसक्त न हो।

लौकिक में अनासक्त होकर निर्वाह किसप्रकार किया जाय, वह भी कहते हैं। सेवा एवं लौकिकके कार्य करता रहे। हर्षके आवेशमें एवं दबावसे ऋणकर लौकिक कार्य न

करे। तथापि यदि इस तरह भी लौकिक कार्य करने ही पडे तो, प्रभुके शरणकी भावना करे। क्योंकि; काल, कर्म, स्वभाव, सङ्ग एवं देश आदि के बन्धनसे लौकिक कार्य अनिवार्य ही हों, तब उन सबके परिहार केलिये भिन्न भिन्न अनेक साधन करना सम्भव नहींहै, अतः पूर्वोक्त मुख्य साधन श्रीहरिका शरण ही श्रेष्ठ है। गीताके शरणोपदेश एवं भागवतके एकादशस्कन्धोक्त वाक्योंसे शरण सिद्ध होता है। शरणागत व्रजभक्तोंमें, सत्यव्रतराजामें और सप्तर्षियोंमें शरणसे ही सर्वकार्यकी सिद्धि देखी गई है। अतः शरण ही मुख्य साधन है। इससे यह भी निश्चित होता है, कि शरण असहायशूर है।

उपसंहार.

इस प्रकार उपदेश देकर उपसंहार करते हैं। आश्रयरूपी शरणमार्गका निरूपण विवेक एवं धैर्य सहित किया गया। उसका स्वरूप वर्णन भी किया गया। वह शरण सभी वर्ण एवं आश्रमों के लिये सर्वदा सर्वयुगमें, सुखदुःखोंमें भी अधिकारानुसार हितकर है। "मेरा आश्रय करनेवाले पापी जीवोंका भी उद्धार होता है" इस भगवद्वाक्यसे ज्ञात होता है, कि शरण सभीका उद्धार करता है।

कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या इति मे मतिः ॥ १७ ॥

कलियुगमें भक्त्यादिमार्ग दुःसाध्य हैं, ऐसा मेरा अभिप्राय है।

कलिमें सब मार्ग नष्ट हो चुके हैं

भगवान्ने श्रीमद्भागवतके एकादशस्कन्धमें जीवके कल्याणके लिये कर्म, ज्ञान एवं भक्तिमार्ग ये तीन मार्ग क्यों बताये है? इसका उत्तर देते हुए आज्ञा करते हैं, कि कलियुगमें भक्त्यादिमार्ग नष्ट हो चुके हैं, अर्थात् दुःसाध्य हैं। क्योंकि उनको साधनकी अपेक्षा है, अत एव उनको एक पङ्क्तिमें कहा है। और शरणमार्गको किसी साधनविशेषकी अपेक्षा न होनेसे, तथा उसके द्वारा सबकुछ सिद्ध होनेसे यहां वह—शरणमार्ग स्वतन्त्ररूपसे कहा गया है। इस भगवदाश्रयका उत्तम रहस्य श्रीमदाचार्यचरणों को ज्ञात है, अत एव वे अपनी सम्मति भी प्रदान करते हैं। इस विवेकधैर्याश्रय ग्रन्थके अनुकूल रह कर भगवदाश्रय करनेवाले जीवको अवश्य सब तरहसे आश्रय सिद्ध होता है। भगवान् उस भक्तको आश्रयका दान करते हैं।

॥ गोस्वामी श्रीश्यामलालजीके पुत्र श्रीव्रजराजजीविरचित विवेकधैर्याश्रय विवृतिका शास्त्री हरिशङ्करकृत हिन्दीभाषानुवाद श्रीमद्वल्लभाचार्यजीके चरणकमलमें समर्पित हो ॥

प्रकाशितपुस्तकानि ।

१	श्रीमद्गोपालपूर्वतापिन्युपनिषद् [गो० श्रीमदनिरुद्धाचार्यप्रणीतब्रह्मामृत-भाष्येण पीयूषलहर्या टीकया च समुपबृंहिता]	१	४	०
२	ब्रह्मवादसंग्रहः ... [हिन्दी अनुवाद समेत]	१	४	०
३	शुद्धाद्वैतसिद्धान्तमञ्जरी [गो० श्रीमदनिरुद्धाचार्यविरचिता] ...	०	४	०
४	अवतारवादावली [पण्डितपुरन्दर गो० श्रीपुरुषोत्तमप्रणीता]	२	०	०
५	सूर्यशतकं सटीकम् (महाकविमयूरविरचितम्)	: मुद्र्यते :		
६	पुष्टिभागीयसिद्धान्तशेखर (गुजराती) . . .	०	४	०
७	श्रीपुरुषोत्तमजीमहाराजनुं जीवनचरित्र [गुजराती] . .	०	४	०
८	,, ,, ,, [हिन्दी] .	०	६	०
९	वेदान्ततात्पर्यनिरूपण · [हिन्दी अनुवाद] . .	०	४	०
१०	विवेकधैर्याश्रयनिरूपण ,, . .	०	४	०
११	कृष्णाश्रय . . . ,, . .	०	४	०
१२	श्री सुबोधिनीजीनुं गुजराती भाषांतर प्रथम भाग . .	२	०	०
१३	प्रमेयरत्नार्णव . [हिन्दी अनुवाद] . .	छपता है		
१४	तत्त्वार्थ दीपनिबन्धः सप्रकाशः [शास्त्रार्थप्रकरणम्] . .	०	८	०
१५	श्रीमद्गोपालाष्टपदी सचित्रा	०	४	०
१६	नयविवेकः . श्रीभवनाथविरचितः . .	मुद्र्यते		
१७	त्रिपादनीतिनयनम् श्रीमुरारीमिश्र विरचितम् . . .	,,		

दामोदर लक्ष्मीराम जोषी.

व्यवस्थापक—श्रीसुबोधिनी ग्रन्थमाला कार्यालय,

मोटी हवेली : : जामनगर.